शहरीकरण का विस्फोट

डिण्डोरी जिले के हरिराम बैगा को एक बार बंगलुरू जाने का मौका मिल गया। हरिराम ने जब बंगलुरू के हवाई अड्डे की ओर जाने वाली चमचमाती और दूधिया रोषनी से नहाई हुई सड़क देखी तब उसने कहा कि – तो इसीलिए अपने गांव के लोग शहर की ओर दौड़–दौड़कर आ रहे हैं। फिर इस बैगा आदिवासी ने कहा कि ऐसी सड़कों को इतनी बिजली यहां कैसे मिल जाती है, हमारे गांव के घरों में तो एक बल्ब भी नहीं जल पाता? वास्तव में जब शहरीकरण एक जज्बा बनकर हमारी बहस में आता है तो विकास का सबसे बड़ा लक्ष्य यही बन जाता है कि इस देष को शहरों को देष बना दो!! और एक आम इंसान जब शहर की कल्पना करता है तो उसके सामने चकाचौंध कर देने वाली बसाहट होती है, आधुनिकता का भव्य प्रदर्षन होता है। अभावों में रहकर जिन्दगी के एक–एक हिस्से को जोड़कर संवरने की जद्दोजहद करने वाला गांव में रहने वाला हरिराम यह मानने लगता है कि शहर यानी आसानी से उपलब्ध पानी, कदम–कदम पर इलाज और बच्चों की पढ़ाई–लिखाई की सुविधायें! परन्तु उन झुग्गी बस्तियों को देखकर वह दुविधा में पड़ गये कि वैसा उजाला और सुविधायें शहर की इस आधी आबादी को क्यों नही मिली! ऐसा भेदभाव तो गांव में भी नही होता है। यदि वह युवा हुआ तो वह मानेगा कि शहर माने रोजगार के चारों तरफ बिखरे हुये अवसर। कुल मिलाकर शहरीकरण एक काल्पनिक दुनिया तो नहीं है न!

विकास संवाद, मध्यप्रदेश

किस कीमत पर शहरीकरण!

आज जब हम इस विषय पर चर्चा करते हैं तो वह थोड़ी ही देर में बहस में तब्दील हो जाती है। हम या तो शहरीकरण के पक्ष में खड़े होते हैं या फिर इसी पूरी तरह से खिलाफत करते हैं। यह बहस जायज है। जायज इसलिये क्योंकि हम जानना चाहते हैं कि हमारे देष में जो शहरीकरण हो रहा है, कहीं वह गांवों की बदहाली और वहां सिमटती जा रही जिन्दगी का परिणाम तो नहीं है! हमारे मन में यह भी ख्याल आता है कि कहीं इसके पीछे कोई आर्थिक राजनीति तो नहीं छिपी हुई है! हम आंकलन करना चाहते हैं कि बदहाली, बीमारी, बेरोजगारी और असुरक्षा जैसे सवालों के जवाब क्या बेतरतीब ढंग से हो रहे शहरीकरण में मिलने वाले हैं? पूरी दुनिया की तरह ही भारत में भी शहरीकरण को आधुनिक विकास से पैदा हुई सोच नहीं माना जा सकता है। आज की परिस्थितियों पर करने से पहले हमें इसका ऐतिहासिक पहलू जान लेना बहुत जरूरी है। मानव सभ्यता के जब से प्रमाण मिलते हैं तभी से शहरों के निषान भी मिलते हैं। सुनियोजित और सुव्यवस्थित शहरीकरण की परम्परा भारत को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दुनिया के दूसरे देषों से एक अलग पहचान दिलाती है।

दुनिया में पांच हजार साल पहले की हिंदूधाटी की सभ्यता में शहरी बसाहट की शुरूआत के प्रमाण भारत में ही देखें गये। इसके बाद मध्यकाल में भी सत्ता व्यवस्थाओं के उत्थान और पतन के फलस्वरूप शहरों की स्थापना की एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया सी नजर आती है। कई कर्तबा इसे एक सांस्कृतिक व्यवहार के साथ भी जोड़कर देखा जाता रहा है। परिभाषा के स्तर पर व्यापार, उद्योग, राज्य और सामाजिक–आर्थिक–राजनैतिक व्यवस्था को चलाने के लिये शहरों के वजूद को अनिवार्य माना गया है। आधुनिक भारत में शहरीकरण का तेज दौर 18वीं सदी में तब देखा गया जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में आई। उसने व्यापार–उत्पादन के लिये बंदरगाहों का निर्माण किया और उन बंदरगाहों के आसपास शहर बसाये या उनका विकास किया। एक नजरिये से भारत की गांवों के संसाधनों को लूटकर ले जाने के लिये शहरों को जरिया बनाया गया।

- आज भारत के शहरो में लगभग 34 करोड़ लोग रहते हैं और यह संख्या अगले 20 वर्षों में बढ़कर 59 करोड़ हो जायेगी।
- 10 लाख से ज्यादा की जनसंख्या वाले शहरों की संख्या 42 से बढ़कर 68 हो जायेगी। यूरोप में आज ऐसे 35 शहर हैं।
- शहरीकरण की जरूरत को पूरा करने के लिये भारत को 53 लाख करोड़ रूपये का निवेष करना होगा।
- अब हमें व्यावसायिक और आवासीय निर्माणों के लिये 753 अरब वर्गफीट जगह चाहिये यानी हर साल एक नया षिकागो शहर खड़ा करना होगा।
- चलते रहने के लिए ढाई करोड़ वर्ग मीटर सड़कों का निर्माण करना होगा।
- 7400 किलोमीटर लम्बी मैट्रों और अन्दरूनी रास्तों का निर्माण जरूरी होगा।
- भारत के 26 राज्यों के 640 शहरों में 52000 झुग्गीबस्तियां हैं नौ राज्य (नागालैण्ड, मिजोरम, सिक्किम, अरूणांचल प्रदेष, मणिपुर सहित) ऐसे हैं जां झुग्गी बस्तियां नहीं हैं।
- भारत में 1901 में 1827 शहरी बसाहटें थीं जो अब बढ़कर 5161 हो गई हैं। जबकि 1921 में 685665 गांव थे अब आबाद गांवों की संख्या धटकर 593731 रह गई हैं।

इसके बाद हमारे लिये बीसवीं सदी बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। 1901 से 2001 की अवधि में यहां कुल शहरों की संख्या 1827 से बढ़कर 5161 (वर्ष 2001 में) हो गई। शहर तो बढ़े परन्तु यह बात भी साफ तौर पर उभकर आती है भारत में छोटे शहरों से ज्यादा बड़े शहरों का विकास हुआ है। वर्ष 1901 में एक लाख की जनसंख्या वाले केवल 24 शहर थे जो वर्ष 2001 में बढ़कर 393 हो गये जबकि 5 से 10 हजार की जनसंख्या वाले शहरों की संख्या 744 से बढ़कर महज 888 हो पाई। यानी संसाधन और विकास बड़े नगरों के आसपास केन्द्रित हुआ। बड़े शहरों में रहने वाली जनसंख्या का प्रतिषत 26 से बढ़कर अब 68 हो गया है और छोटे शहरों में आबादी का अनुपात कम हुआ है। शहरीकरण का यह परिदृष्य बताता है कि कहीं न कहीं गांवों की बदहाली ने इसके लिये उर्वरक का काम किया है। वर्ष 1921 में भारत में 685665 गांव थे और गांधी जी कहते थे कि हमारा देष 7 लाख गणराज्यों का देष है और वर्ष 2001 की जनगणना बताती है कि अब महज 593731 गांव ही देष में आबाद हैं। कहां गये ये 92 हजार

गांव? मतलब यह है कि 28 गांवो की कीमत पर एक शहर खड़ा हुआ। मौजूदा दषक में ही 7863 गांव शहरो की सीमा में शामिल कर दिये गये।

आज शहरी जीवन के 2 घंटे हर रोज ट्रेफिक के नाम होते हैं। वर्तमान स्थिति में भारत में एक किलोमीटर सड़क पर 170 वाहनों का घनत्व है, जो सड़कों पर जाम की स्थिति बनाता है। अगले 20 वर्षों में जाम का समय दो गुना हो पाने वाला है क्योंकि निजी परिवहन साधनों को भारत में ज्यादा विस्तार दिया गया। जिससे सार्वजनिक परिवहन सेवायें बेहद कमजोर हो गई। आज 70 प्रतिष शहरी परिवहन निजी साधनों से होता है जिसे आधा करने की जरूरत है। कार्बन उत्सर्जन, दुर्घटनायें और तनाव भी यातायात की अव्यवस्था के बड़े परिणाम है।

बुनियादी जरूरतों का बुनियादी संकट

इस तथ्य को महज नकारात्मक कहकर हमें नकारना नहीं चाहिए कि देष–समाज ज्वालामुखी सरीखे विस्फोट की संभावना के मुहाने पर आ बैठा है। भारत के चार राज्यों (बिहार, उत्तरप्रदेष, पष्चिम बंगाल और उत्तराखंड) के 36 शहर हर रोज डेढ़ अरब लीटर अवषिष्ट मैला पानी बिना उपचार के गंगा के बेसिन में छोड़ते हैं। इतना ही नहीं भोपाल का 24 करोड़ लीटर मैला अपषिष्ट पानी खुला छोड़ दिया जाता है जो शहर की शान भोज तालाब में जाकर भी मिला है, तो इन्दौर का 12 करोड़ लीटर गंदा पानी खान और षिप्रा नदी से जा मिलता है। मध्यप्रदेष के बड़े शहर हर रोज 124.8 करोड़ लीटर मैला और गंदा पानी पैदा करते हैं परन्तु राज्य में ऐसे पानी को उपचार करने की क्षमता महज 18.6 करोड़ लीटर पानी की है। राजस्थान 138 करोड़ लीटर सीवेज उत्पादन के बदले केवल 5.4 करोड़ लीटर पानी का उपचार करने की क्षमता रखता है। छत्तीसगढ़ 35 करोड़ लीटर गंदा पानी पैदा करता है पर महज 6.9 करोड़ लीटर का उपचार करता है।

केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण मण्डल की शहरों में पानी की स्थिति पर जारी ताजा रिपोर्ट के मुताबिक भारत के 908 शहर हर रोज 3.80 अरब लीटर मैला पानी पैदा करते हैं और इसमें से 2.80 अरब लीटर मैला अवषिष्ट बिना उपचार के शेष गंदा पानी खुले मैदानों और नदियों (जैसे गंगा, नर्मदा, क्षिप्रा, चंबल आदि) में मिलने के लिये छोड़ दिया जाता है। 113 शहरों द्वारा गंगा और उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र में हर रोज डेढ़ अरब लीटर अवषिष्ट गंदा पानी छोड़ा जाता है। ऐसे में बेतरतीब ढंगी शहरों का यह देष किसी भी ऐसी महामारी के चपेट में आ सकता है, जिसके लिये हम खुद जिम्मेदार होंगे। हम उस स्थिति में कभी नहीं आ सकेंगे जब शहरों द्वारा पैदा किये गये अरबों टन कचरे का उपचार करके उसे ठिकाने लगा सकें। यह कचरा पानी, जमीन, पेड़ और इंसानी स्वास्थ्य, सबको बीमार बना देगा।

प्रोफेसर सुरेष तेंदुलकर समिति की रिपोर्ट के मुताबिक 25.7 प्रतिषत शहरी गरीबी की रेखा के नीचे हैं। ये एक व्यक्ति पर 19 रूपये प्रतिदिन से भी कम खर्च करके जीवनयापन करते हैं। आज जबकि शहरों में अपनी छत का सुख हासिल करना बुनियादी जरूरत है, इन परिवारों के लिए आवास का आधार मिलना एक दूर का ख्वाब है।

जवाहरलाल नेहरू शहरी नवीनीकरण योजना के तहत झुग्गीवासियों और गरीब परिवारों को घर देने की प्रक्रिया जरूर शुरू की गई है पर इसमें एक व्यक्ति के खाते में महज 30 से 40 वर्गफिट की सतह ही आ रही है। भोपाल में इस योजना के अनुभव बताते हैं कि निर्माण र्का पूरी तरह से गुणवत्ताहीन हैं और असुरक्षित भी।

मौजूदा स्थिति में जबकि महज 2.7 प्रतिषत नगर पालिकायें ही 100 लीटर प्रतिव्यक्ति या उससे अधिक पानी उपलब्ध करा पा रही हैं और 28 प्रतिषत नगरीय क्षेत्र में जनता को 50 लीटर से कम पानी उपलब्ध है। यानी जकारिया समिति द्वारा तय मापदण्डों को लागू नहीं किया जा पा रहा है इसके एवज में पानी का निजीकरण कर दिया गया है जिससे शहरी गरीबों के लिये संकट गहरा रहा है। बात अब केवल पानी की खरीदी–बिक्री का ही नहीं है बल्कि पानी की तेजी से होती कमी के संदर्भ में पानी हासिल करने की है, जिसके बारे में शहरीकरण की नीतियां चुप्प हैं। वर्ष 2008 में भारत के शहरों में पानी के लिए 1738 झगड़े हुये जिनमें 19 लोग मारे गये, वर्ष 2009 में इनकी संख्या 1903 पहुंच गई।

वर्ष 2007 में 83 बिलियन लीटर पानी की जरूरत थी पर महज 56 बिलियन लीटर पानी की आपूर्ति हो पा रही थी यानि 27 बिलियन लीटर पानी की कमी थी। वर्ष 2030 में जरूरत होगी 189 बिलियन लीटर पानी की और उपलब्ध होगा केवल 95 बिलियन लीटर। यानी कमी 27 बिलियन लीटर से बढ़कर 96 बिलियन लीटर हो जायेगी। इसी तरह वर्ष 2007 में हर रोज 66 बिलियन लीटर गंदे पानी के उपचार की जरूरत के विरूद्ध केवल 13 बिलियन लीटर पानी का उपचार हो पा रहा था। वर्ष 2030 में हम 42 बिलियन लीटर पानी का उपचार करने की क्षमता रखेंगे पर गंदे पानी का उत्पादन 151 बिलियन लीटर हो जायेगा। हर साल अभी 51 मिलियन टन कचरा हर साल पैदा होता है, कचरे की यह पैदावार 2030 में बढ़कर 377 मिलियन टन हो जायेगी। यही कमी सड़क और रेल यातायात के मामले में भी जमकर बढ़ने वाली है। आवास व्यवस्था के बारे में उभरकर आये निष्कर्ष और ज्यादा गंभीर हैं। आज जरूरत 3 करोड़ घरों की है पर केवल 50 लाख घर ही बन पायेंगे। यह अंतर 2030 के शहरों में खूब बढ़ने वाला है। तब 5 करोड़ घर चाहिये होंगे और बन पायेंगे केवल 1.20 करोड़।

शहर में रहने वाली जनसंख्या – आज और 20 साल बाद

राज्य	वर्ष 2008 में		वर्ष 2030 में	
	प्रतिषत	संख्या	प्रतिषत	संख्या
तमिलनडु	53	3.54 करोड़	67	5.34 करोड़
गुजरात	44	2.52 करोड़	66	4.8 करोड़
महाराष्ट्र	44	4.79 करोड़	58	7.81 करोड़
कर्नाटक	37	2.16 करोड़	57	3.96 करोड़
पंजाब	36	1.0 करोड़	52	1.90 करोड़
हरियाणा	31	0.75 करोड़	45	1.52 करोड़
प. बंगाल	29	2.58 करोड़	40	4.15 करोड़
मध्यप्रदेष	25	1.72 करोड़	32	2.99 करोड़
झारखण्ड	25	0.76 करोड़	31	1.20 करोड़
राजस्थान	24	1.55 करोड़	33	2.95 करोड़
छत्तीसगढ़	24	0.58 करोड़	40	1.17 करोड़
उत्तरप्रदेष	21	3.992 करोड़	26	6.89 करोड़

शहरीकरण का मतलब एक ऐसी सघन बसाहट से है जहां जनसंख्या 5000 से ज्यादा हो और लोग आधुनिक सुख सुविधाओं के बीच व्यवसाय करते हुये एक साथ निवास करते हों। उनके आपस कें सम्बन्ध औपचारिक और जटिल हों। शहरों को हमने कल्पना की बसाहट माना है परन्तु क्या आज के शहरों का यही सच है? नहीं सच इस कल्पना से अलग है! आज शहरीकरण का मतलब हो गया है झुग्गी बस्तियों का झुण्ड, जहां लोग अपने मूल स्थानों को छोड़कर एक सपना लेकर आते हैं और तात्कालिक जरूरतों को पूरा करते–करते वहां बस जाते हैं। आज लगभग 34 करोड़ लोग शहरों में रहते हैं परन्तु इनमें से 40 फीसदी लोग ऐसी झुग्गी बस्तियों में रहते हैं जहां न तो शौचालय की व्यवस्था है न पीने का साफ पानी है और खुली नालियों से गंदा पानी बह–बहकर उन्हें हर कदम सावधानी से उठाने के लिये विवष करता है। अधिकृत आंकड़ों (भारत सरकार) के मुताबिक भारत में 52 हजार झुग्गी बस्तियां हैं। जानेमाने सामाजिक अर्थषास्त्री किंग्सले डेविस ने इसे आति–षहरीकरण के रूप में परिभाषित किया है। वे मानते हैं कि गांवों में संसाधनों का सही तरीके से दोहन न होने और गरीबी के कारण गांव से लोग शहर की ओर पलायन करते हैं। जितनी गरीबी गांव में बढ़ेगी यदि उतना ही शहरीकरण बढ़ता है तो इसे नियोजित शहरीकरण नहीं माना जा सकता है। आज दिल्ली में 1.80 लाख लोग आटोरिक्षा चलाते हैं इनमें से 90

फीसदी उत्तरप्रदेष, बिहार, राजस्थान और मध्यप्रदेष से आये हैं जबकि कलकत्ता के रिक्षा चालक और मजदूर बिहार से पलायन करके गये हैं। भारत में शहरीकरण के विस्तार को गांवों की बदहाली के संदर्भ में देखा जाना चाहिये।

एक ख़ास वर्ग को लाभ पंहुचाने के लिए सरकार ने कुछ अच्छे कानूनों को ख़त्म तक कर दिया। सन 1976 में इंदिरा गाँधी ने शहरी भूमि (हदबंदी और नियमन) क़ानून बनाया था। इस क़ानून का उद्देश्य सामाजिक न्याय की सोच के तहत शहरों की जमीन के समतामूलक बंटवारे को सुनिश्चित करना था। इस क़ानून के मुताबिक एक हद से ज्यादा खाली जमीन कोई भी व्यक्ति अपने पास नहीं रख सकता था। दिल्ली और मुंबई जैसे शहरों में यह हद 500 वर्ग मीटर तक थी। इससे जायदा खाली जमीन को सरकार कानूनी प्रक्रिया से मुआवजा देकर अपने नियंत्रण में ले सकती थी। शहरों में 2,20,675 हेक्टेयर जमीन की पहचान हुई पर केवल 19,020 हेक्टेयर खाली भूमि ही सरकार अधिग्रहीत कर पायी। संपन्न और राजनीतिक–आर्थिक–सामाजिक रूप से प्रभावशाली समुदाय से जमीन लेना कोई आसान बात थोड़े है! बाद में जब उदारीकरण की नीतियाँ आयीं तब 1999 में यह क़ानून ही हटा दिया गया। कुछ राज्यों ने यह क़ानून नहीं हटाया तो सरकार ने यह शर्त रख दी कि यह जवाहर लाल नेहरु शहरी नवीनीकरण योजना के तहत केन्द्रीय सहयोग चाहिए हो तो पहले यह क़ानून हटाओ। वास्तव में बड़े बड़े भूमाफियाओं के संरक्षण देने के लिए यह साऱी कवायद की गई। अब भी यह सच है कि मुंबई की 60 फ़ीसदी आबादी कुल जमीन के 5 फ़ीसदी पर रह रही हैए और दिल्ली की 20 फ़ीसदी आबादी कुल जमीन के आधे फीसदी हिस्से पर जीवन बसर करती है। इस तरह की नीतियों से शहर में रहने वाले गरीब और सामाजिक–आर्थिक रूप से वंचित परिवारों के लिए खुद का घर बनाने का सपना अब हर रोज़ टूटता है।

स्वास्थ्य और सषक्तिकरण

एचआईवी एड्स अब एक बड़ी चुनौती के रूप में हमारे सामने है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (तीन) के मुताबिक 83.2 प्रतिषत शहरी लोगों ने इसके बारे में सुना–जाना है। दूसरी तरफ महज 50 प्रतिषत ग्रामीण इससे वाकिफ हैं। सूचनाओं और जानकारियों के इस अंतर का बड़ा कारण ग्रामीण समाज की टेलीविजन, समाचार पत्र जैसी जन संचार साधनों तक पहुंच का अभाव है। शहरीकरण की प्रक्रिया में शहरी इलाकों को बिजली की ज्यादा उपलब्धता, बेहतर यातायात साधनों और बेहतर षिक्षा का फायदा मिला है। जिसका असर जिन्दगी के अलग–अलग पहलुओं पर साफ दिखाई देता है। इसी अध्ययन से यह भी पता चला कि शहरों में केवल 10.4 प्रतिषत लोगों के पास स्वास्थ्य बीमा की सेवायें हैं।

आष्चर्यजनक रूप से यह तथ्य भी सामने आया है कि गांवों में तो 20.8 प्रतिषत लोगों से स्वास्थ्य कार्यकर्ता की मुलाकात हो रही है किन्तु शहरों में केवल 10 फीसदी लोगों से स्वास्थ्य कार्यकर्ता तीन माह की अवधि में मिलते हैं। शहर सषक्तिकरण का पर्याय नहीं है। गांव में 33.1 प्रतिषत महिलायें अपनी मर्जी से कहीं भी बहर जा सकती हैं पर शहर में 20.1 प्रतिषत महिलाये ंही ऐसा कर पाती हैं। सेक्स के मामले में गांव में 16. 6 प्रतिषत महिलायें इंकार कर देती हैं पर शहर में 8.9 प्रतिषत महिलायें ही ऐसा कर पाती हैं। शहर के बच्चे पूरी तरह से स्वास्थ्य नहीं हैं; वहां 32.7 प्रतिषत बच्चे कुपोषण के षिकार हैं। जन्म के पहले घंटे में 69.7 प्रतिषत बच्चों को मां का दूध नहीं दिया जाता है और 35.5 प्रतिषत को तो जीवन का पहला दिन भूखे ही गुजारना पड़ता है।

वर्ष 1993–94 में 57 प्रतिषत शहरी परिवारों को भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद द्वारा तय कम से कम 2100 कैलोरी से कम ऊर्जा का भोजन मिलता था। वर्ष 2004–05 में इन परिवारों की संख्या बढ़कर 65 प्रतिषत हो गई। अब सरकार परिषद के कैलौरी के मापदण्ड को ही मानने से इंकार करती है और कहती है कि शहर में 1795 कैलोरी ऊर्जा का भोजन पाकर जिंदा रहा जा सकता है।

ऐसे में एसोसियेटेड चेम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज आफ इंण्डिया (एसोचैम) की रिपोर्ट ***हाउसिंग एण्ड हेल्थ फैलिसिलटीज फॉर अर्बन पुअर*** के मुताबिक शहर बस नाम के ही शहर हैं। यहां आज की स्थितियों को सुधारने के लिये चार करोड़ घर और 500 अस्पताल बनाने की जरूरत है। जो सरकार की जिम्मेदारी है। इन अस्पतालों से शहरी गरीबों को उचित स्वास्थ्य सेवायें देने के लिए 30 हजार डॉक्टरों और नर्स की नियुक्ति किये जाने की जरूरत है। यही रिपोर्ट बताती है कि शहरी गरीब परिवारों के 80 हजार बच्चे अपना पहला जन्मदिन मनाये बिना मर जाते हैं। इन्स्टीट्यूट ऑफ इकोनामिक ग्रोथ (नई दिल्ली) के साथ सम्बद्ध रहे प्रोफेसर आलोक रंजन कहते हैं कि ''जिस तरह से शहरों के विस्तार की पहल की गई, उस तत्परता और जिम्मेदारी के साथ वहां बुनियादी स्वास्थ्य सेवाओं की ढांचागत व्यवस्था नहीं की गई। शहरी व्यवस्था में लोक स्वास्थ्य सेवाओं का ढांचा सुव्यवस्थित नहीं है जबकि सैद्धान्तिक तौर पर ही सही, गांव में इन सेवाओं का स्वरूप व्यवस्थित नजर आता है। शहरों में निजी स्वास्थ्य सेवाओं की ज्यादा सहज उपलब्धता है इसलिये यहां प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता ही सुनिष्चित नहीं की गई जिसमें शहरी गरीब सबसे ज्यादा पीड़ा भोगते हैं।''

आजीविका का सवाल

हमें यह मानना होगा कि भारत की सम्पन्नता उसके गर्भ में मौजूद प्राकृतिक संसाधनों (जैसे चूना पत्थर, लौहा, कोयला, बाक्साईट, मैगनीज आदि) से जुड़ी हुई है। वर्ष 1991 से अपनाई गई विकास की उदार नीतियों के तहत इन प्राकृतिक संसाधनों के अधिकतम दोहन को प्राथमिकता दी गई है। इसके लिये निजी कम्पनियों और उद्योगों को बढ़ावा दिया गया। अब यदि इन संसाधनों का भरपूर दोहन करना है तो जरूरी है कि गांवों से लोगों के संबंधों को कमजोर किया जाये ताकि सहज तरीके से खनन और औद्योगिकीकरण को फैलाया जा सके। इसके लिये दुधारी रणनीति अपनाई गई। एक तरफ तो लौहा, सीमेंट, स्टील का उत्पादन बढ़ा तो वहीं दूसरी ओर शहरीकरण से इन उत्पादों को बड़ा बाजार भी मिला। जब शहरों पर जनसंख्या का बोझ बढ़ा तो उनके लिये घरों की जरूरत भी महसूस हुई और दबाव में सरकार को जमीन, इमारत बनाने की सामग्री और परिवहन सम्बन्धी करों–नियमों को षिथिल करना पड़ा; जिसका बाजार ने खूब फायदा उठाया। यह माना जाता है कि शहरीकरण ने ज्यादातर मजदूरो, मैकेनिकों और सेवा के क्षेत्र में रोजगार के खूब अवसर पैदा किये हैं परन्तु सच यह है कि शहरों को आने वाले लोगों को कौषल–क्षमताविहीन मानकर शारीरिक श्रम का काम ही दिया जाता है जिससे न तो उन्हें रोजगार की सुनिष्चितता होती है और कम मजदूरी के कारण उनकी आर्थिक स्थिति में भी बदलाव नहीं आ पाता है। जरूरी है कि जिन क्षेत्रों को हम स्थाई विकास के लिये बेहद महत्वपूर्ण मानते हैं उनके लिए लोगों को प्रषिक्षण देकर कौषल सम्पन्न बनाया जाये; यह नीति अब तक कहीं उभर नहीं पाई है।

भारत की राष्ट्रीय शहरी आवास नीति (2007) के मुताबिक 10 वर्षों में भारत में सीमांत कामगारों की संख्या में शहरों में 360 प्रतिषत की वृद्धि दर्ज की गई जबकि मुख्य कामगारों (जिन्हें कौषल सम्पन्न माना जाता है) में महज 23 प्रतिषत की बढ़ोत्तरी हुई। हालांकि देष में पैदा हुये कुल रोजगार में से 79 प्रतिषत (1.93 करोड़ रोजगार शहरों में पैदा हुये; गांव में महज 50 लाख रोजगार पैदा हुये) यही कारण है कि नेषनल सैम्पल सर्वे आर्गनाईजेषन बताता है कि अब 50 फीसदी से ज्यादा किसान कर्जे में हैं; 60 फीसदी खेती छोड़कर दूसरा काम करना चाहते हैं। यह एक रची गई परिस्थिति है हमें यह समझना होगा। मुम्बई में 'घर बचाओ घर बनाओ' आंदोलन के समन्वयक सिम्प्रीत सिंह के मुताबिक शहर तभी चल सकते हैं जब यहां सस्ता श्रम उपलब्ध होगा। जब गांव में सबकुछ छोड़कर लोग पलायन करके शहर आते हैं तब उनकी जरूरत उन्हें मोलभाव नहीं करने देती और वे सस्ते श्रमिक बनकर ठेकेदारों की पूंजी बन जाते हैं। उनके मुताबिक जे.एन.यू.आर.एम. एक तरह से 100 लोगों को झुग्गी बस्ती से बाहर लाकर पक्के घर देने का

सपना दिखाता है परन्तु उनमें से 85 को गैर सूचीबद्ध झुग्गीवासी कहकर अपात्र घोषित कर दिया जाता है। गांव छोड़कर झुग्गी में आ बसे ऐसे परिवार अवांछित वर्ग बन जाते हैं।''

सरकार की नीति स्पष्ट करती है कि छह लाख गांवों तक एक–एक सेवा सुविधा और अधिकार का विस्तार करने की उसकी जवाबदेहिता संवैधानिक है किन्तु मौजूदा नीतियां उसे इस जवाबदेहिता से पीछे हटाती हैं। शहरों में जनसंख्या को केन्द्रित करने से सरकार को एक ही स्थान पर लाखों लोगों के लिये व्यवस्थायें करना होंगी, यह दूसरा रणनीतिगत फायदा है; बाजारीकरण के बाद। शहरीकरण की नीति को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का खूब समर्थन है। परन्तु क्या शहरीकरण का आगे का रास्ता आसान है?

शहरीकरण कर अर्थषास्त्र

मैकेंजी ग्लोबल इंस्टीट्यूट (एमजीआई) की अप्रैल 2010 में जारी रिपोर्ट जो आंकलन पेष करती है वह हमें सचेत करने के लिए काफी है। यह पूरे देष का शहरीकरण करने की कल्पना करती है। वर्ष 2001 में 29 करोड़ लोग शहरों में थे जो 2008 में बढ़कर 34 करोड़ हो गये। अनुमान है कि अगले 20 वर्षों में यानी 2030 तक यह संख्या बढ़कर 59 करोड़ हो जायेगी। 23 करोड़ को शहर आने में जितना समय लगा, उससे आधे समय में 25 करोड़ और लोग शहरी हो जायेंगे। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि कितनी तेजी से शहरों का विस्तार होगा और गांव लील लिये जायेंगे। अब दिल्ली अकेली दिल्ली नहीं रह गई है बल्कि गाजियाबाद, गुड़गांव, फरीदाबाद, पलवल जैसे शहर इसमें पूरी तरह समा चुके हैं। मुम्बई अब जमीन पर नहीं बल्कि आसमान की तरफ बढ़ रही है। अहमदाबाद–गांधीनगर न केवल एक हो गये हैं बल्कि उनके जल्दी ही 190 गांव शामिल हो जायेंगे। इंदौर और देवास के बीच कोई दूरी नहीं रह जायेगी। कुल मिलाकर भीषण विस्तार होगा शहरों का; पर जिन्दगी का विस्तार हो पायेगा क्या? यह माना जा रहा है कि सरकार को 85 प्रतिषत राजस्व शहरों से प्राप्त होगा; इसमें यह तथ्य छोड़ दिया गया है कि भारत की सवा सौ करोड़ की जनसंख्या का पेट भरने के लिये अनाज की पैदावार शहरीकरण से नहीं होगी। एमजी आई का आंकलन बताता है कि अगले 20 सालों में भारत के 5 राज्यों (तमिलनाडु, गुजरात, महाराष्ट, कर्नाटक और पंजाब) की 50 फीसदी से ज्यादा जनसंख्या शहरी हो जायेगी।

आज 42 शहरों की जनसंख्या 10 लाख से ज्यादा है, अगले 20 सालों में ऐसे शहरों की संख्या 68 हो जायेगी। सकल घरेलू उत्पाद यानी जीडीपी के मामले में बताया गया है कि 2008 में शहरों से जो 50 प्रतिषत का था वह 2030 में बढ़कर 70 प्रतिषत हो जायेगा। अकेले मुम्बई, दिल्ली और बंगलुरू 3.87 खरब रूपये योगदान करेंगे। आज भारत में ढांचागत विकास पर प्रति व्यक्ति व्यय लगभग 465 रूपये प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष है जबकि चीन में 5000 रूपये और इंगलैण्ड में 15000 रूपये खर्च करता है। मौजूदा परिस्थितियों को बदलने के लिये भारत की सरकार को 53 लाख करोड़ रूपये खर्च का निवेष करना होगा। सहजता के साथ देखें तो 750 रूपये के मौजूदा खर्च को 8 गुना बढ़ाकर 6050 रूपये प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष करना होगा। भारत में स्वास्थ्य पर महज 400 रूपये खर्च होते हैं और सरकारी षिक्षा में एक बच्चे पर केवल 1800 रूपये; वहां शहरीकरण के लिये सरकार को 8 गुना आवंटन बढ़ाना होगा। परन्तु अब तक के सारे आकलन बताते हैं कि जब–जब खेती कमजोर होती है, तब– तब बाजार ठप्प पड़ जाते हैं, भूखे लोगों की संख्या बढ़ जाती है। खेती के ठोस होने पर 15 करोड़ परिवारों की क्रय क्षमता बढ़ जाती है। यहां तक की सरकार का बजट गड़बड़ा जाता है। ऐसे में खेती, खेतीहर समाज और गांव के विकास के साथ शहरीकरण की नीति बनना चाहिये।

बड़े पैमाने पर होने वाला शहरीकरण बुनियादी सुविधाओं (जैसे सड़क, बिजली, पानी, रोजगार, मकान) को जुटाने के लिये बहुत बड़े निवेष की मांग कर रहा है। इतना बडा निवेष सरकार कर पाने की स्थिति में नहीं है। ऐसे में निजी क्षेत्र निवेष करेगा जिसके लिये लोगों को ऊंचे शुल्क चुकाने होंगे और सरकार करों

में बढ़ोत्तरी करेगी। हमें ध्यान रखना होगा कि शहर का मध्यम वर्ग बहुत अमीर नहीं होता है। वह नौकरी पेषा या छोटा–मोटा व्यापार करने वाला है। जब भोपाल में पानी की कीमत नगर निगम एक साथ तीन गुना बढ़ा देता है या जब दाल की कीमत 100 रूपये प्रतिकिलो हो जाती है तो उसकी जड़ें हिल जाती हैं; वह घबरा जाता है। शहरीकरण चकाचौंध ऐसे में छटने लगती है।

सिम्प्रीत सिंह कहते हैं कि गांव को पिछड़ेपन और शहरों को विकास का सूचक बनाकर पेष किया गया है। यह भी दावा किया गया कि शहरों में भेदभाव और शोषण नहीं होता है परन्तु सच यह है कि शहरीकरण की चकाचौंध में गरीबों, शोषण और भेदभाव को छिपाने की कोषिषें की गई। आज भी मुम्बई में महिलाओं को पानी के लिये दो से तीन किलोमीटर चलना पड़ता है; या फिर मंहगी कीमत चुकाना पड़ती है। इन परिस्थितियों में यदि हम फिर से एमजीआई के आंकलन की ओर लौटें तो हम महसूस कर पायेंगे कि शहरीकरण के विस्फोट का बादल किस तरह का अंधेरा ला सकता है। मापदण्डों के मुताबिक हर व्यक्ति के लिए औसतन 220 लीटर पानी की उपलब्धता होना चाहिये पर वर्तमान में यह उपलब्धता महज 100 लीटर से भी कम है, जल संकट के कारण जिसके आगे और कम होने की संभावना है। इसी तरह एक व्यक्ति के लिए उद्यान–खुले स्थान की उपलब्धता 16 वर्ग मीटर होना चाहिये पर आज केवल 2.7 वर्ग मीटर खुला स्थान उपलब्ध है। मैकेन्जी की रिपोर्ट कहती है कि अगले 20 वर्षों में जीवन की गुणवत्ता बहुत घटेगी क्योंकि बुनियादी सेवाओं की मांग तो बढ़ेगी पर उन्हें पूरा करने की क्षमतायें भारत की सरकार की नहीं होगी।

अब सवाल यह है कि क्या 53 लाख करोड़ रूपये जैसी बड़ी राषि का निवेष भारत जैसे देष शहरीकरण के लिये निवेष करने की स्थिति में हैं? या फिर हमें शहरीकरण को शौक के तौर पर न देखते हुये फिर से उसकी आदर्ष परिभाषा की ओर लौटना चाहिये कि न्यायपरक शासन व्यवस्था चलाने, व्यापार और उद्योगों को नीतिगत सहयोग करने, आजीविका के ज्यादा साधन उपलब्ध कराने के लिये शहरीकरण की जरूरत है। हमें उन सुझावों से सतर्क रहने की भी जरूरत है जो यह बताते है। कि शहरीकरण में निवेष के लिये जरूरी यह राषि कहां से हासिल की जा सकती है। यह सुझाव दिया जा रहा है कि जिस तरह मुम्बई में बांद्रा–कुर्ला इलाके की पूरी जमीन को बेचकर मुम्बई सरकार विकास करने वाली है, उसी तरह देष के दूसरे शहरों में भी उपलब्ध जमीन को बेहद सस्ते दाम पर बेचा जाना चाहिये; सवाल यह है कि क्या स्थाई सम्पत्तियां बेचने के लिये होती हैं या सुरक्षा के लिये। देष में झुग्गी बस्तियों की जगह गगनचुम्बी इमारतें बनाकर दबड़ेनुमा फ्लैट्स इन परिवारों को दिये जा रहे हैं ताकि ज्यादा से ज्यादा जमीन मुक्त कराई जा सके।

शहरी झुग्गी बस्तियों का समाज

शहरी झुग्गी बस्तियों और उनमें रहने वाले लोगों को एक सुनियोजित तरीके से समाज के ऊपर एक दाग के रूप स्थापित करने की कोषिष हुई। यह कहा जाता रहा है कि वे अपराधी हैं; वे अनैतिक व्यापार करते हैं, मैले–कुचैले और गंदे हैं। यदि विकास करना है तो हमें उन्हें शहर से बाहर करना होगा। पर यह एक बुना गया झूठ है। एक कल्पना कीजिये कि यदि इन झुग्गी बस्तियों के लोग हफ्ते भर के लिए हड़ताल पर चले जायें तो तुम्हारी जिन्दगी क्या होगी? क्या तुम्हारे बच्चों के स्कूल का वाहन आयेगा, क्या घर के काम होंगे, क्या सब्जी मिलेगी, क्या शहर की सफाई होगी? नहीं!! जनाब तुम्हारी जिन्दगी का पहिया है ये झुग्गी के वाषिंदे। इनकी जिन्दगी को खत्म करने की नहीं अपने बराबर लाने की बात करो। भारत के 640 शहरों में 420 लाख परिवार घोषित झुग्गी बस्तियों में रहते हैं और इनकी जिन्दगी का सबसे बड़ा सच है आधा खाली पेट। यहां 52 हजार झुग्गी बस्तियां हैं पर इनमें से केवल आधी को ही वैधानिक माना जाता है। चौकाने वाली बात यह है कि तथा–कथित अवैधानिक बस्तियों में 17 करोड़ बच्चे रहते है। और अस्वच्छता

के साथ भूख को जीते हैं। इन्हें न तो स्थाई पता मिलता है न पहचान। न पानी पीने को न बिजली और सफाई।

आय बहुत कम होने के कारण ये पोषणयुक्त भोजन पर ज्यादा खर्च नहीं कर पाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के आयुक्तों की आठवी रिपोर्ट (पृष्ठ 62) मुताबिक भारत में 46 प्रतिषत बच्चे कुपोषित हैं किन्तु शहरी झुग्गी बस्तियों में 70 प्रतिषत बच्चे भूख के साथ जीते हुये कुपोषण के षिकार हो चुके हैं। शहरों का यह समाज केवल 9.55 किलोग्राम खाद्यान्न का हर माह उपभोग करता है। बस्तियों में 2970 आंगनवाड़ी केन्द्र खोलने की जरूरत है पर वैधानिक–अवैधानिक बस्तियों की बहस के बीच बच्चों को पोषण का अधिकार ही नहीं मिल पा रहा है। बस्ती के लोग अस्वस्थ्यकर वाली ऐसी परिस्थितियों में काम करते हैं जो कई बीमारियों का कारण बनती हैं और लगातार चलने वाली भुखमरी उन्हें उन बीमारियों से लड़ने की ताकत हासिल नहीं करने देती। इन बस्तियों में जीवन जीना हर दिन की एक चुनौती है पर फिर भी इन्हें खाद्य सुरक्षा का अधिकार देने में इतनी हिचक क्यों? क्या हम अपने ही समाज में एक नया भेदभाव पैदा नहीं कर रहे हैं?

मापदण्ड यह है कि हर झुग्गी बस्ती को एक जल–मल निकास व्यवस्था (ड्रेनेज) मिलना चाहिये पर 44 फीसदी झुग्गियों में इसका अभाव है। नेषनल सैम्पल सर्वे आर्गनाईजेषन बताता है कि 51 प्रतिषत असूचीबद्ध बस्तियों में शौचालय की कोई व्यवस्था नहीं है और 73 प्रतिषत में वाहन पहुंचने लायक सड़क नहीं पाई गई। लगभग 80 फीसदी बस्तियों में सप्ताह में एक बार ही कचरा उठाने की व्यवस्था की गई है जिससे स्वच्छता का पूरा मिषन ध्वस्त हो जाता है। यह स्थिति शहर को बीमारियों का स्थाई ठिकाना भी बनाती है।

शहरीकरण की जिम्मेदारी को अभी हम समझ नहीं पाये हैं। भारत में साईकिल रिक्षा परिवहन का सबसे बहुआयामी पसंदीदा और पर्यावरण मित्र साधन रहा है। इनका सड़कों से हटने का मतलब है यातायात के ऐसे मंहगे साधनों का बढ़ना जो ईंधन उपयोग करते हैं। पेरिस और आस्फोर्ड जैसे शहर अब इसी साधन को अपना रहे हैं परन्तु नई दिल्ली में जहां अंदरूनी कालोनियों में इसकी खूब जरूरत है वहां दिल्ली हाईकोर्ट ने हेमराज बनाम सीपी, दिल्ली के मामले में आदेष देते हुये इनहें प्रतिबंधित कर दिया क्योंकि इनसे सड़क पर ट्रेफिक अटक जाता है। उनपर कई बंदिषें भी लगा दी गई। यह सही है कि एक तबके के पास खूब पैसा आ गया है जिससे वे तेज रफ्तार गाड़ियां खरीद पायें हैं परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वे दूसरे तबके के आजीविका के साधन छीनें। पर्यावरण को नुकसान पहुंचायें और सड़क जैसे संसाधनों पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण की कोषिष करें। इसी तरह ठेला चालकों, फेरीवालों और फुटपाथ पर छोटे–छोटे स्टाल लगाकर छोटे उत्पादों ओर उपभोक्ताओं के बीच की कड़ी बनने वालों को भी अब शहरी सौंदर्य पर दाग माना जाने लगा है।

नव–पूंजीवादी शहरीकरण उतना जिम्मेदार, जवाबदेय और मानवीय नहीं है जितना कि इसे होना चाहिये। शहरीकरण की प्रक्रिया में समाज का एक तबका भीख मांगकर जीवनयापन करने को मजबूर हो जाता है। उपेक्षा, गरीबी के चक्र और किसी तरह की अक्षमता से चोट खाकर अपनी जिन्दगी जीते हैं। संरक्षण और अवसरों के अभाव में यही इनकी आजीविका का साधन होता है। भारत में 7.50 लाख भीख मांगने वालों में से 84 फीसदी शहरों की सड़कों पर गुजर–बसर करते हैं परन्तु दिल्ली में राष्ट्रमण्डल खेलों के मद्देनजर जब सड़कों को साफ करने की बात आई तो भिखारियों को भी शहर से गुम करने का निर्णय ले लिया गया। कारण–क्योंकि इनसे देष की साख पर बट्टा लगता है। इसके पहले 1959 में बम्बई में बम्बई भिक्षावृत्ति रोकथाम कानून लागू करके भीख मांगने को अपराध घोषित किया जा चुका है। किसने पैदा किये ये भिखारी और क्या यही सभी तरीका है शहर सुन्दर बनाने का...? मिलुन कोठारी कहते हैं कि न्यायपालिकायें भी शहरों के सौन्दर्यीकरण के लिये विस्थापन या बेदखली को जायज ठहरा रही हैं जबकि यह मसला मानव अधिकारों के नजरिये से जांचा जाना चाहिये। इन स्थितियों में महिलाओं और बच्चों के खिलाफ बेहद हिंसक माहौल बनता है। केवल दिल्ली में ही 10 आवासहीन महिलायें हैं और उनमें से केवल

1 फीसदी को ही कहीं आश्रय मिल पाता है। ऐसे में उन्हें दुर्व्यवहार और उत्पीड़न के लिये सहज उपलब्ध माना जाता है।''

पांच हजार वर्षों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य बताता है कि एक स्थान पर इकट्ठा होकर व्यापारिक गतिविधि की जरूरत ने शहरीकरण को प्रेरित किया है परन्तु शहर कभी भी उत्पादन के केन्द्र नहीं बने। उत्पादन के केन्द्र तो गांव ही रहे, अपनी पहचान और व्यवस्था के साथ स्वतंत्र हरते हुये। आज शहरीकरण की प्रक्रिया में यह सिद्धान्त ताक पर रख दिया गया है कि जीवन मषीनों, कम्प्यूटर और गगनचुम्बी इमारतों के बिना चल सकता है परन्तु अनाज, खेती और खेतिहर समाज के बिना जिन्दगी संभव नहीं है। आज शहरीकरण की चकाचौंध हमें आकर्षित जरूर कर रही है परन्तु अगले कुछ वर्षों में ही यह सपना टूटता नजर आयेगा क्योंकि जब अनाज की कमी होगी और दाम पहुंच के बाहर होंगे तब शहर की ओर भाग रहे समाज को फिर से गांव और खेती की ओर लौटना पड़ेगा। यह शहरीकरण हर साल वेक्टर बोर्न बीमारियों में 16 प्रतिषत की दर से इजाफा कर रहा है। इन बीमारियों का इलाज आज देष के नगारिकों के कर्जदार होने का सबसे बड़ा कारण है। यह बिंदु भी महत्वपूर्ण है कि भारतीय राज्य को प्रभावित करने में खेती और खेतिहर समाज अहम् रहा है क्योंकि वह उत्पादक की भूमिका में रहा है पर खेती की नीतिगत उपेक्षा और सरकार के साथ छोड़ देने के कारण खेती घाटे का सौदा बन गई। जिससे गांव के लोगों को खेती का विकल्प छोड़कर शहर की ओर पलायन करने का विकल्प अपनाना पड़ा। वे इस उम्मीद में रहे कि शहर में रहे कि शहर में रोजगार मिलेंगे। अब यह संकेत मिलने लगे हैं कि महानगरों में भी रोजगार के अवसर अब चरम अवस्था में आ रहे हैं। अब वहां भी नाउम्मीदी पसरने लगी है। संयुक्तराष्ट्र मानव अधिकार आयोग द्वारा आवास अधिकार पर नियुक्त विषेष प्रतिनिधि मिलुन कोठारी कहते हैं कि ***विकास के नाम पर लोगों की जबरिया बेदखली एक स्थाई नीति बनती जा रही है। इसे मैं शहरी और ग्रामीण अलगाववाद कहता हूं। देष में गरीबों को अमीरों से अलग करके एक अलग वर्ग के रूप में स्थापित किया जा रहा है। शहरों में आवासीय विकास हो रहा है उसमें केवल सम्पन्नों के लिए स्थान है और गरीबों को धकेल कर हाषिये पर दबड़ों में रहने के लिए मजबूर किया जा रहा है।***

भारत के 908 शहरों में से कोई भी ऐसा शहर नहीं है जो शहरवासियों को हर रोज पर्याप्त मात्रा में पानी दे रहा हो; क्योंकि वह ऐसा कर ही नहीं सकता। शहर में जो विषेष प्रभावषाली इलाके होते हैं केवल वहीं हर समय पानी और बिजली है। अनियोजित शहरीकरण होने पर पानी, जमीन और जंगल जैसे सीमित संसाधनों पर भारी दबाव पड़ता है। अब भोपाल में सरकार स्थानीय जल संसाधन से नागरिकों को पानी पिलाने की स्थिति में नहीं है इसलिए डेढ़ सौ किलोमीटर दूर नर्मदा नदी से पाईप लाईन डालकर पानी खींचकर ला रही है। इंदौर में भी ऐसा हो रहा है। कर्नाटक और तमिलनाडु के बीच पानी के बंटवारे को कावेरी विवाद एक राजनैतिक–सामाजिक टकराव का रूप ले चुका है; क्योंकि अब शहरीकरण के लिए दूसरे समुदायों या इलाकों के संसाधनों पर कब्जा करने की कोषिषें हो रही हैं। जिनसे तनाव पैदा हो रहा है। विरोध शहरीकरण की विचारधारा से नहीं हो सकता है परन्तु गैर–जवाबदेय और अनियोजित शहरीकरण को स्वीकार करने का मतलब है एक विध्वंसकारी विस्फोट की अपने ही हाथों तैयारी करना। हमारे पास जो सीमित संसाधन उपलब्ध हैं, उनका सामुदायिक प्रबंधन करते हुये ही शहरीकरण की जरूरत पर विचार किया जाना चाहिए। परन्तु मौजूदा समय में प्राकृतिक संसाधनों पर एकछत्र कब्जा करने की मंषा रखने वाले नव पूंजीवादी व्यापारियों को फायदा पहुंचाने के लिये बेतरतीब शहरीकरण की वकालत हो रही है। यह इस देष के लिये सकारात्मक संकेत नहीं है।

ग्रामीण व्यवस्था में समाज यह जानता है कि हमारे संसाधन जैसे पानी, जमीन, उर्वरता, पर्यावरण, सब कुछ असीम नहीं हैं, बल्कि सीमित हैं। इसलिए उनका बेहतर प्रबंधन होना चाहिए। इसी विचार का पालन करते हुए हर गाँव अपने यहाँ पानी की संरचनाये बनता और उनके रख रखाव करता रहा। इन संसाधनों को उसने अपनी आस्थाओंए विश्वास और संस्कृति के साथ जोड़ा. उसने अपनी जरूरतों को सीमित रखा ताकि संसाधनों का अनुचित और ज्यादा दोहन ना करना पड़े. क्या जीवन के यह सिद्धांत आज के शहरीकरण में

दिखाई देते हैं! इतिहास बताता है कि मोहन जोदड़ो के काल का शहरीकरण विकेन्द्रित था और गाँव की सामाजिक अर्थव्यवस्था को मदद करने और उसे सशक्त बनाने की भूमिका निभाता था। यह व्यवस्था मध्यकाल तक चली। परन्तु ब्रिटिश शासन में गाँव के संसाधनों को लूटने का जरिया शहरों को बनाया गया। अंग्रेजों द्वारा तय की गयी इस भूमिका को हम आज भी बरकरार रहे हुए हैं। आज का अनियंत्रित और बदहवास शहरीकरण महानगरों के आस पास केन्द्रित है और गाँव की अर्थव्यवस्था और संसाधनों के प्रबंधन में मदद नहीं करता है बल्कि उन पर कब्ज़ा करने की कोशिश कर रहा है। अब ग्रामीण भारत अर्बन इंडिया का उपनिवेश बन रहा है।

जे.एन.एन.यू.आर.एम–सहभागी शहरी विकास की नई भुलभुलैया

आर्थिक उदारीकरण के दौर के बाद जनसहभागिता का जुमला नये कलेवर में सामने आया और चर्चा का केन्द्र बना। यहाँ जनसहभागिता के मायने शासकीय प्रयासों में जनों को शामिल करने यानि उनकी सहभागिता सुनिष्चित करने से नहीं है अपितु इस आड़ में यह विषुद्ध रूप से निजीकरण को बढ़ावा दिये जाने का छिपा एजेण्डा ही है। वर्तमान में जनसहभागिता का नया पाठ देष के चुनिंदा 63 शहरों में लागू की गई जे.एन.एन.यू.आर.एम (जवाहर लाल नेहरू अर्बन रिन्यूवल मिषन) योजना के अंर्तगत् पढ़ाया जा रहा है। आगे बढ़ने के पूर्व अपनी बात कहने की जमीन मैं इस तरह से तलाषता हूँ कि स्वतंत्रता के उपरांत शहरी विकास के जितने भी बड़े कार्यक्रम (लगभग 15) आये, वे शहरी बस्तियों में अवस्थापना विकास के साथ–साथ शहरी गरीबों के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन के लिये किये गये हैं। इनके नतीजे हमारे समक्ष स्पष्ट हैं क्योंकि इन विकास कार्यक्रमों के बीच उस वर्ग की नब्ज़ को कभी भी नहीं टटोला गया जो कि शहर में आने के पूर्व अपने गाँव में और शहर में आने के उपरांत झुग्गी बस्तियों में रहते हुये वंचित व उपेक्षित ही रहा है। विडंबना यह भी है कि सैद्धांतिक रूप से इन विकास कार्यक्रमों के केन्द्र में यही गरीब तबका रहा है।

जे.एन.एन.यू.आर.एम (जवाहर लाल नेहरू नेषनल अर्बन रिन्यूवल मिषन) यानी क्या!

वर्ष 2005 के अंत में प्रारंभ किये गये इस मिषन का आधार यही है कि स्लम में निवास करने वालों की निरंतर बढ़ती जनसंख्या, शहरी आाधारभूत सेवाओं तथा अवस्थापन पर जबरदस्त दवाब उत्पन्न कर रही है, जिसके लिये उचित शहरीकरण नीति/रणनीति बनाना नितांत आवष्यक है। यह योजना सुधार आधारित परियोजना है और इास कार्यक्रम में राज्यों की राजधानियों, ऐतिहासिक व पर्यटन महत्व के 28 शहरों के अलावा तथा 10 लाख की आबादी के 35 शहरों समेत कुल 63 शहरों को शामिल किया गया है। प्रदेष में यह योजना चार शहरों भोपाल, इंदौर, उज्जैन तथा ग्वालियर में लागू की गई है।
इस योजना के दो मुख्य उपमिषन हैं।

- शहरी अवस्थापना और अभिषासन
- शहरी गरीबों को आधारभूत सेवायें

इस योजना में राज्य व नगर निकायों के स्तर पर दो तरह के सुधार किये जाने हैं। ये सुधार हैं आवष्यक और ऐच्छिक । कहने को सुधारों को एच्छिक कहा गया है परन्तु वह भी 7 वर्षों में क्रियान्वित किये जाने हैं अर्थात् ऐच्छिकता महज समय सीमा में फेरबदल को लेकर ही है। छूट है तो बस इतनी कि ऐच्छिक सुधार की समय सीमा नगर निकाय अपनी सहूलियत से कर ले ,लेकिन यह सभी 7 वर्षों में ही होना चाहिये। इस योजना में 50 प्रतिषत राषि केन्द्र, 20 प्रतिषत् राषि राज्य सरकार तथा 30 प्रतिषत राषि स्थानीय निकायों को खर्च करनी है।

जे.एन.एन.यू.आर.एम की चीरफाड़

अतिउत्साहित नजरिया तो हमें सुधार के इस कार्यक्रम के पक्ष में गाल बजाने पर हमें मजबूर करेगा लेकिन विष्लेषणात्मक नजरिया इस संदर्भ में हमारे कदमों को दो कदम पीछे खींच लेता हैं, आइये जोर–षोर से प्रचारित की जा रही इस योजना के विभिन्न पक्षों को समेटने की हम कोषिष करते हैं।

- भ्रांति – सर्वप्रथम तो यह कि इस योजना को लेकर बड़ी वाहवाही लूटी जा रही है कि यह योजना यूपीए सरकार की योजना है जबकि यह योजना दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002–07) के शहरी नियोजन का का एक भाग है ना कि यूपीए सरकार का एजेण्ड़ा। यह महज संयोग ही है कि यह योजना 2005 में लागू हुई और तब सत्तारूढ़ यूपीए रही । यहाँ यह संज्ञान रहे कि पंचवर्षीय योजना का मसौदा तीन या चार वर्ष पूर्व से ही तैयार किया जाता है।
- जे.एन.यू.आर.एम. के संदर्भ में यह प्रचारित भी किया जाता रहा है कि यह 1 लाख करोड़ रूपये की योजना है, जो कि सही है परन्तु यदि इसे 63 शहरों में बाँटकर देखें तो प्रति शहर के खाते में 160 करोड. रूपये के आसपास ही आते हैं।
- ज्ञात हो कि इस मिषन के दो उपमिषन हैं और योजना में कहीं भी उन दोनों मिषनों के बीच बजट अलग–अलग अनुपात कितना होगा, यह कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया है । और इस दुर्भावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि अवस्थापना विकास और अभिषासन वाले उपमिषन में ज्यादा प्रावधान कर दिया जाये और गरीब जनों के खाते वाले इस उपमिषन में टोटा ही रहे।
- इस मिषन को समेकित विकास की दिषा में अभूतपूर्व कदम माना जा रहा है किन्तु इस मिषन के दोनों उपमिषन दो अलग–अलग मंत्रालयों शहरी विकास तथा शहरी रोजगार एवं निवारण मंत्रालय के अधीन हैं, अतएव यह कहना असंगत ही होगा कि यह पूरक गतिविधियाँ होंगी अपितु यह समानांतर गतिविधियाँ होंगी और दोनों के बीच समन्वय का अभाव भी होगा।

सुधार कार्यक्रम

शहरी निकाय के स्तर पर (अनिवार्य सुधार)

- सुधार कार्यक्रमों के चलते नगरीय निकायों की स्थिति बेहतर होगी जिससे उनकी साख बढ़ेगी तथा मार्केट कैपिटल तक उनकी पहुँच बढ़ेगी।
- सुधार कार्यक्रमों का स्पष्ट उद्देष्य यही है कि निजी क्षेत्र को बढ़ावा देना। यह तब भी स्पष्ट है जबकि मिषन के अंर्तगत् निजी क्षेत्र की सहभागिता वाली परियोजनायें प्राथमिकताओं के आधार पर स्वीकृत करने का प्रावधान है। पब्लिक प्राईवेट पार्टनरषिप (पीपीपी) का जुमला ।
- यह सामर्थ्य के अनुरूप शहरी गरीबों को आवास उपलब्ध कराने की बात करता है लेकिन निजी क्षेत्र की सहभागिता होने पर यह सामर्थ्य क्या होगी, यह समझ से परे है क्यूँकि अभी तक के अनुभव बताते हैं कि शहरी अभिकरणों या शासकीय षिक्षा संस्थानों द्वारा जो मैध्स्प्ळ क्वाटर बनाये गये हैं वे किस हद तक गरीबों की पहुँच के बाहर हैं ? मतलब उन मकानों की कीमत भी वे ही तय करेगें जो उसे बनायेंगे और अर्फोडेबल (सामर्थ्य) की परिभाषा भी उनकी ही होगी, फिर चाहे वह गरीब की पहुँच में हो या ना हो ?
- सम्पत्ति कर का उचित एकत्रीकरण और अगले 7 वर्षों में यह 85 प्रतिषत तक हो जाये।
- उपयुक्त उपभोक्ता शुल्क लगाना। यहाँ उपयुक्त की परिभाषा कौन तय करेगा? स्वभावतः निजी क्षेत्र फिर चाहे गरीब की चमड़ी उधड़ जाये।

- इसमें एक ही चीज अच्छी है कि दोहरी लेखा प्रणाली को अपनाना। पर इसमें संदेह है कि यह किस हद तक लागू हो पायेगा?

राज्य स्तरीय सुधार (अनिवार्य सुधार)

- 74वें संविधान संषोधनों के प्रावधानों को लागू कराना इसके मायने यही हुये कि अभी तक यह लागू नहीं है ?
- एक और खतरनाक सुधार है 'शहरी हदबंदी अधिनियम' को खत्म करना यानि निजी क्षेत्र आगे आयें और 'बाँटो और लूटो' के गीत को कानूनी तर्ज मिल जाये।
- स्टॉम्प ड्यूटी कम करना। ये सभी सुधार एक दूसरे से बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से अंर्तसंबंधित हैं। यानि इधर से हदबंदी हटेगी और उधर से निजी कंपनियाँ धडल्ले से रजिस्ट्री करा सकें और स्टॉम्प ड्यूटी कम होगी तो इन्हें राहत मिल सकेगी?
- जनसहभागिता के जुमले को कानूनी जामा पहनाना?

ऐच्छिक सुधार

- नगर निकायों में प्रापर्टी टाइटल प्रमाणपत्र की व्यवस्था को लागू करना? इस व्यवस्था के आधार पर कंपनियाँ/बैंक गरीबों को मकान खरीदने के लिये ऋण उपलब्ध करा देंगी और कर्ज ना चुका पाने की स्थिति में कुर्की की जा सकेगी, इस तरह से झंझट वाली प्रक्रियाओं को आसान बनाना।
- कृषिष्योग्य भूमि का गैर कृषि कार्यों के लिये रूपान्तरण के लिये कानूनी प्रक्रिया का सरलीकरण, जबकि कृषि नीति,कृषि भूमि के गैर कृषि उपयोग को रोकने पर जोर देती है?

ढाँचागत सुधार

- इसके चलते कर्मचारियों की छँटनी की जायेगी।

सलाहकार दल

अब जरा इस कार्यक्रम के सलाहकार दल पर भी गौर कर लेते हैं। इस योजना के जो जकनीकी सलाहकार समूह के सदस्य हैं, उनकी अपनी राजनीतिक पृष्ठभूमि क्या है? उनका अपना ज्ञान व कौषल किसी और क्षेत्र का है लेकिन वे यहाँ किसी और हैसियत से ही हैं। दूसरा जो भी सलाहकार ब्च के संदर्भ में अपना ज्ञान मोटी रकमों के बदले बाँट रहे हैं वे पूर्व में फायनेन्स मार्केट में काम करते रहे हैं। वे अचानक शहरी नियोजन के विषेषज्ञ कैसे हो गये?

भोपाल के विषेष संदर्भ में जे.एन.एन.यू.आर.एम

भोपाल के विषेष संदर्भ में देखें तो यहाँ पर जनसहभागिता का नया स्वरूप सामने आया है क्योंकि यहाँ पर शहर नियोजन का दृष्टि पत्र यानि सी डी पी (सिटी डेव्हपलमेंट प्लॉन) महज तीन माह में ही बनकर तैयार हो गया। अब चूँकि इस योजना का पैसा 'पहले आओ पहले पाओ' के सिद्धांत पर ही दिया जाना है जिसके चलते आनन–फानन में ही सी डी पी बना दिया गया। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जिन सलाहकारों का सी डी पी बनाने में सहभाग रहा है उनकी अपनी विषय पर पकड़ कितनी है?

सी डी पी की मूल भावना यही थी कि शहर के विकास का एक दृष्टि पत्र बनाया जाये जिसमें जनसहभागिता सुनिष्चित की जाये और स्थानीय जनों की प्राथमिकता के आधार पर होने वाले कार्यों को

सूचीबद्ध किया जाना था। परन्तु भोपाल में हुआ इसके विपरीत। वार्ड सभाओं में चर्चा कर सी डी पी तैयार किये जाने के दावे तो खूब किये जा रहे हैं परन्तु कितनी बैठकें हुईं ? क्या चर्चा हुई? कितने सुझाव आये? ये आँकड़ा किसी के पास भी नहीं है।

जनसहभागिता का एक तरीका तो यह है कि अमुक–अमुक कार्य अमुक योजना के तहत् आपके यहाँ किये जाने हैं, यह महज़ पढ़कर सुनाना। जिससे लोग योजना के विषय में जान जायें और ख़्याली पुलाव पकाने लगें। और दूसरा तरीका यह कि शहर में कौन से कार्य किये जाने हैं और किन वर्गों को प्रमुख आवष्यकता है, यह सभी के साथ मिलकर तय किया जाये। जाहिर सी बात है कि भोपाल ने जनसहभागिता की शासकीय परिपाटी को ही आत्मसात करते हुये पहले आसान तरीके को चुन लिया। यहाँ भी संदेह की स्थिति तब निर्मित होती है जबकि सी डी पी बनने की भनक, शहरी नियोजन के संदर्भ में सबसे खास महकमे टाऊन एंड़ कंट्री प्लानिंग विभाग को तक ना लगी अर्थात् एक विषेषज्ञ विभाग से सलाह लेना तक उचित नहीं समझा गया? जबकि उक्त विभाग शहर का मास्टर प्लॉन तैयार कर रहा है। अर्थात् जब सी डी पी की प्रक्रिया को लेकर दो आपसी विभागों में ही मतभेद हो तो फिर आम जनता की सहभागिता सुनिष्चित करने की बातें बेमानी हैं?

सूचना के अधिकार के अंर्तगत् आवेदन लगाने पर (आवेदन लंबित है) भी सी डी पी की प्रति देखने को नहीं दी जा रही है तो फिर बस्ती स्तर पर कितना विचार विमर्ष हुआ होगा, यह समझ से परे है। अधिकारी गण कहते हैं कि सी डी पी इंटरनेट पर आम जनता के लिये उपलब्ध है तो यह स्थिति हास्यास्पद है क्योंकि कितने प्रतिषत आम लोग इंटरनेट का उपयोग करते हैं या कितने लोगों की इंटरनेट तक पहुँच है? यह एक गंभीर सवाल है ? और यदि जनसहभागिता के मायने यही है तो हमारी इससे असहमति है?

एडीबी कर्जे का घालमेल और गरीबों का उपमिषन

ज्ञात हो कि नगरीय जलापूर्ति एवं पर्यावरण सुधार परियोजनांर्तगत् भोपाल शहर में एडीबी का करोडों रूपया कर्ज लिया गया है, इस योजना के अंर्तगत् जलापूर्ति के संबंध में कई सुधार किये जायेंगे, जिसमें से एक खतरनाक सुधार यह है कि वर्ष 2009 तक सार्वजनिक क्षेत्र के सारे जलस्त्रोत बंद कर दिये जायेंगें तथा जो पैसा देगा वही पानी लेगा । भोपाल में नगरनिगम ने इस योजना को जेएनएनयूआरएम में समाहित करने का फैसला लिया है अर्थात् जब योजना समाहित होगी तो फिर शर्तें भी लागू होंगी ? अब यहाँ से दूसरे उपमिषन (गरीबों को बुनियादी सुविधायें) में झाँकने का प्रयास करते हैं तो अंधेरा ही अंधेरा नजर आता है।

'kgjhdj.k ;kuh pqukSfr;ksa dh iSnkokj

- भारत में केवल सुख, सुविधाओं और शौक के तौर पर शहरीकरण का विस्तार हो रहा है।
- अनियोजित शहरीकरण के कारण आवास, पानी, स्वच्छता जैसी जरूरतें पूरी नहीं हो पायेंगी और नये रूप में झुग्गीबस्तियों का विस्तार होगा।
- परिवहन की समस्या बढ़ेगी क्योंकि स्थान के कम होने के बावजूद देष की परिवहन नीति बडी गाड़ियों के उत्पादन–उपभोग को प्रोत्साहित कर रही है।
- शहरी जीवन शैली मौजूदा स्वरूप में जलवायु परिवर्तन को बढ़ावा देगी और पानी का दुरूपयोग बढ़ रहा है।
- अब दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई, मुम्बई, जैसे महानगरों में रोजगार अवसरों की उपलब्धता चरम स्तर पर पहुंच चुकी है। मुम्बई में तो अब कम होते अवसर क्षेत्रीयता आधारित टकराव के रूप में भी सामने आने लगे हैं।
- शहरीकरण के लिये अब जितनी जमीन चाहिये उसे हासिल करने के लिये हर साल एक लाख एकड़ खेती, जंगल और खुली जमीन का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष उपयोग करना होगा।
- अव्यवस्थित जीवनषैली के कारण अस्थमा, त्वचा, रक्तचाप और संक्रमण बीमारियों के तेजी से बढ़ोत्तरी होगी।

शहरीकरण की एक कहानी यह भी!

विस्थापन का दंष बनाम अस्तित्व का संकट

(सूखी सेवनिया के अमानवीय प्रयोग की दास्ताँ)

तसल्लियों के इतने साल बाद, अपने हाल पर
निगाह ड़ाल, सोच और सोच कर सवाल कर
कहाँ गये वो वायदे, सुखों के ख्वाब क्या हुये
तुझे था जिनका इंतजार, वो जवाब क्या हुये
तू उनकी झूठी बात पर ना और एतबार कर
कि तुझको साँस–साँस का, सही हिसाब चाहिये
घिरे हैं हम सवाल से, हमें जवाब चाहियैं

'kyHk Jh jkeflag

भूख और अस्तित्व का संघर्ष हर बार एक नई कड़ी के साथ अपने विकराल रूप में नजर आता है और हर बार यह नई कड़ी इस अस्तित्वमान धारावाहिक को जीवित रखने में मददगार सिद्ध होती है। मजेदार यह है कि इस धारावाहिक का अगला पड़ाव ना तो निर्माता जानता है और ना ही निर्देषक? तय है तो महज इतना कि हर बार चरित्र को ही अपनी कुर्बानी देना है।

गौर करने लायक बात यहाँ यह भी है कि हर बार हर नई कड़ी किसी ना किसी कहावत का बिगड़ा स्वरूप ही है। इस बार की कहानी शुरू करेंगे इस कहावत से जो कि इस रूप में प्रचलन में है कि 'दाल में कुछ काला है'। यह कहावत किसी भी अस्तित्वमान प्रसंग में तनिक गड़बड़ियों की ओर इषारा करती है और इसे रोजमर्रा की जिंदगी में आटे में नमक मिलाने जैसी स्थितियों से सुपरिभाषित किया जा सकता है।

यहाँ चिंताजनक यह है कि आदम के प्रगैतिहासिक युग के साथ यह व्यवस्था वर्तमान में लगभग आदर्ष सी व्यवस्था के रूप में जानी जाने लगी है और इन बदली पस्थितियों में नवपीढ़ी ने इन्हें पालने पोसने का कार्य भी अपने हाथ में ले लिया है।

हमने आजादी की रजत जयंती मना ली और सोचिये कि आज भी एक बहुत बड़ी आबादी को यह तय करने का अधिकार भी नहीं है कि वह कैसे और कहाँ रहे? उसके आसपास क्या हो या क्या ना हो? भूमंड़लीकरण हो या फिर हरित क्रांति ऐसी कई परस्पर संबंधित प्रक्रियाओं का प्रत्यक्ष परिणाम है गाँवों से शहरों की ओर पलायन। ये पलायन अभी तो और बढ़ेगा क्योंकि यह तो सरकारी गलत नीतियों का प्रतिफल है।

'एक तो करेला और ऊपर नीम चढ़ा' कहावत भी आपने खूब पढ़ी–सुनी होगी, यह कहावत किसी भी बिगड़ी तस्वीर का और बिगड़ा रूख हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। तस्वीर के इस बदले रूख की पराकाष्ठा को कुछ उदाहरणों के साथ समझने पर हमारा संवाद सही राह पकड़ पायेगा। आइये चलते हैं सूखी सेवनिया जहाँ सरकार का विस्थापन बनाम व्यवस्थापन के पीछे छिपा कथित जनहित का राग दम जोड़ता नजर आ रहा है

इनका भी एक इतिहास है!

दिसंबर 2004 की कड़कड़ाती ठंड में भोपाल रेल्वे स्टेषन के समीप रेलवे की बी–केबिन तथा ए–केबिन के पास पटरियों के किनारे पिछले पैंतीस वर्षों से निवासरत लगभग 300 परिवारों को हटा दिया गया। हटाये जाने की भी चरणबद्ध प्रक्रिया यह थी कि पहले तो नवरात्रि के दौरान अक्टोबर माह में अचानक ही झुग्गियों को तोड़ने की कवायद शुरू कर दी गई तथा फिर मानवीयता के घड़ियाली आँसू बहाते हुये नगरनिगम तथा रेल्वे के लोगों ने दो माह की मोहलत दी।

ये जायेंगे कहाँ ? करेंगे क्या ? इसकी सोचने की फिक्र किसी को नहीं थी तब बस्ती के ही कुछ नौजवान साथियों ने संघर्ष किया और तब जाकर यह तय हुआ कि बस्तियाँ जायेंगी सूखी सेवनिया। यानि अपने वर्तमान निवास से लगभग 15 कि.मी. दूर। इसे ही नियति मान कर नगर निगम के ट्रकों पर लद कर चल पड़ा काफिला सूखी सेवनिया की ओर। कुछ साथ चले और किसी ने आसपास ही सर छिपा लिया। अपनों से बिछड़ने का दुःख या अपने आषियानों को छोड़ने की पीड़ा, अपने इष्टों को छोड़ने का दर्द और अनायास सा भय, खुषवन्त सिंह की भाषा में कहें तो यह शीर्षक होता **'ट्रक टू सूखीसेवनिया'**।

रूठी प्रेमिका की मानिंद ही समुदाय के लाग भी सरकार की वायदाखिलाफी से नाराज हैं। विस्थापन के समय यह कहा गया था कि प्रत्येक परिवार को 450 वर्गफीट का प्लॉट, 1200 रूपया मुआवजा राषि तथा बाँस–बल्ली दी जायेंगी, वहाँ पानी होगा, बिजली होगी और सारी सुविधायें दी जायेंगी। पर मिला क्या ? दो दिन तक परिवारों को पूड़ी–सब्जी के पैकेट और आठ दिन तक नगर निगम के टैंकर द्वारा पानी का वितरण और एक 450 वर्गफीट का प्लॉट । फिर आज–कल की राह तकते जीवन संघर्ष कड़ा हो गया और नियति ने ही अपना ड़ेरा ड़ाला। शासन द्वारा दी जा रही खैरात के मसले पर भाग्य ने समुदाय का साथ ना दिया। माफ करिये, यहाँ 'भाग्य' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है क्योंकि संदर्भित अधिकारों की भाषा भद्दा मजाक सिद्ध हो सकती है।

> जब लोगों को जबरन हटाया जाता है तो उत्पादन व्यवस्था नष्ट –भ्रष्ट हो जाती है,। लंबे समय से कायम बस्तियां नष्ट हो जाती हैं और एक वंष के लोग बिखर जाते हैं। रोजगार व परिसंपतियां समाप्त हो जाती हैं। बच्चों की देखभाल में परस्पर सहयोग, खाद्य सुरक्षा, राजस्व हस्तांतरण, श्रम के आदान –प्रदान ओर बुनियादी सामाजिक–आर्थिक सहयोग के स्त्रोत अनौपचारिक सामाजिक ढांचे लोगों के बिखराव के कारण टूट जाते हैं। स्वास्थ्य सुविधाओं में गिरावट आ जाती हैं। उत्पादकों और उनके उपभोक्ताओं के बीज का संपर्क प्रायः टूट जाता हैं और स्थानीय श्रम बाजार अस्तव्यस्त हो जाता है। सदस्यों के अचानक अलग–अलग दिषाओं में बिखर जाने के कारण स्थानीय संगठन और औपचारिक व अनौपचारिक जुडाव टूट जाते हैं। पारंपरिक प्राद्यिकार और प्रबंध व्यवस्थायें नेतृत्वविहीन हो जाती हैं। पैतृक पूजास्थल व कब्रिस्तान जैसे प्रतीक चिन्हों को छोड़ देना पड़ता है जिससे अतीत के साथ लोगों का जुड़ाव टूट जाता है और लोगों की सांस्कृतिक पहचान खतरे में पड़ जाती है। ये प्रक्रियाऐं जो कि हमेषा नजरों में नहीं आ पाती हैं या जिन्हें मापा नहीं जा सकता कोई कपोल कल्पना नहीं, बल्कि यथार्थ हैं। इनका संचित प्रभाव यह होता है कि सामाजिक ढाँचा और अर्थवयवस्था बिखर जाती है।
>
> **विष्व बैंक, रिसेटलमेंट एण्ड डेवलपमेंट, दी बैंकवाइड रिव्यू ऑफ प्रोजेक्टस इनवालिविंग डिस्प्लेसमेंट, 1986–93,पर्यावरण विभाग, 8 अप्रैल, 1994, i`- III-IV**

रोजी रोटी का संघर्ष और सूखी सेवनिया

पहले निवास से महज आधा किलोमीटर के दायरे में ही काम मिल जाता था, पुरूष वर्ग सब्जी मंडी व रेल्वे माल गोदाम में हम्माली, निर्माण मजदूरी, कबाड़ का धंधा तथा शादी समारोहों में खाना बनो तथ्रा बत्ती उठाने का काम करते था जबकि महिलायें आस–पास के घरों में झाड़ू लगाने तथा बत्ती लगाने के कार्य करती थीं। इन कार्यों में महिला–पुरूषों को क्रमषः 150– 200 रूपया मिल जाते थे।

अब यहाँ पर महिलाओं के लिये कोई काम नहीं हैं, पुरूष वर्ग भी काम करने को वहीं लौटता है लकिन अब लगता है एक दिन का 18 रूपया प्रति व्यक्ति प्रतिदिन (मिनी बस) और ऊपर से काम ना मिला तो बैरंग

वापस। रेल से जाने पर 10 रूपये लगता है और कहीं टिकिट ना ले पाये और पकड़ा गये तो 50–100 रूपया यानि उस दिन की मजदूरी की बलि चढ़ना तय।

अस्तित्व का संकट

अपने विस्थापन के तीन वर्षों बाद वे अब जाकर पंचायत की सीमा में आ पाये हैं अब उनका राषन कार्ड बना है। इसके पहले दो वर्षों तक सूखी सेवनिया के उपसरपंच मदन सिंह जी कहते थे कि हम तो केवल मानवीयता के नाते इनकी मदद कर रहे हैं बाकी हमारी पंचायत के पास इनके व्यवस्थापन संबंधी कोई भी लिखित आदेष नहीं है। ना तो इनके नाम वोटर लिस्ट में ही आये हैं । अब राषन कार्ड तो मिल गये हैं लेकिन उन पर राषन नहीं मिलता है, यानि केवल कागज का टुकड़ा साबित हो रहा है राषन कार्ड और कोटेदार कहता है कि केवल कार्ड जारी हुये हैं, जब हिस्से का राषन आये तो दे देंगे।

मूलभूत सुविधायें और सूखी सेवनिया

यहां पेयजल के लिये 3 कि.मीटर दूर कोयला खदान तक जाना पड़ता रहा है, निस्तार का पानी चाहिये आधा किलोमीटर दूर सूखी ग्राम से लाइये । विस्थापन के समय एक बोरिंग अवष्य किया गया था परन्तु विद्युत के अभाव में वह भी नहीं चालू हुआ। बस्ती से महज 300 मीटर की दूरी पर पावर हाऊस होने के बाद भी बस्ती में विद्युत व्यवस्था नहीं है। 20 रूपया प्रतिलीटर की दर के केरोसिन से रौषन होती हैं ये झुग्गियाँ। शौच खुले मे ही जाना होगा, जरा सीमा पार की तो आरपीएफ के जवान डंड़ा फेंक कर मारते हैं। अब जाकर लोगों को पट्टा मिला है, लेकिन वह भी झृग्गियों के नाम पर है जबकि वो पंचायत क्षेत्र में हैं।

पर्याप्त आवास के मानदंड
आर्थिक, सामाजिक, अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र संघ के अंर्तराष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्र के अनुसार

1. स्थाई निवास हेतु कानूनी सुरक्षा
जो कि बलपूर्वक बेदखली,, प्रताड़ना और ऐसी अन्य धमकियों के विरूद्ध एक कानूनी सुरखा सुनिष्चित कराती है।

2. सेवाओं, सामग्रियों,सुविधाओं, एवं अधोसंरचनाओं की उपलबधता
स्वास्थ्य, सुरक्षा, आराम की कुछ मूलभूत सुविधाओं की उपलब्धता तथा पीने का पानी,, बिजली की सुविधा होनी चाहिये।

3. टिकाऊ आवास व्यवस्था
आवास संबंधी खर्चे आय के स्तर से मेलखाये और टिकाऊ आवास व्यवस्था इत्यादि सुविधायें जिनकी पहुँच के भीतर ना हो ऐसे लोगों के लिये आवास सब्सिडी एवे वित्त व्यवस्थायों उपलब्ध कराई जायें।

4. रहवास हेतु उपयुक्त
रहवासियों को निवास के स्थल समुचित जगह उपलब्ध करायें एवं उन्हें बीमारी, प्राकृतिक विपदाओं के भय तथा संरचनागत खतरों से सुरक्षा प्रदान करें।

5. पहुँच के भीतर
आवास की व्यवस्थायें सभी वंचित समूहों जैसे कि प्राकुतिक आपदा, संवेदनषील क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की पहुँच के भीतर होना चाहिये।

6. आवास की स्थिति
निवास के स्थान ऐसी जगहों पर हों जिससे रोजगार के अवसर, स्वास्थ्य संविधाओं, स्कूल और अन्य सामाजिक सुविधाओं की आसान उपलब्धि हो सके। निवास स्थान किसी भी प्रदूषित स्थानों के आसपास नहीं बनाये जाने चाहिये।

7. सांस्कृतिक रूप से समृद्धि
आवास की नीतियाँ एवं इसकी स्वरूप रहवासियों के सांस्कृतिक पहचान एवं विभिन्नता को परिलक्षित करें।

सामाजिक सुरक्षा और सूखी सेवनिया

बस्ती के लगभग 30–35 लोगों को सामाजिक सुरक्षा पेंषन के तहत विधवा, विकलांग, निराश्रित, वृद्धावस्था पेंषन की पात्रता है लेकिन पेंषन लेने भी जाना पड़ता है पुनः भोपाल। समुदाय के वयोवृद्ध भगवान दादा कहते हैं कि अब आने–जाने का लगता है 18 रूपया और यदि उस दिन पेंषन ना मिल पाई और दूसरे दिन जाना पड़ा तो हो गये 36 रूपये अर्थात् कुल मिलाकर 150 रूपये में से 36 किराया यानि 114 रूपया और पूरा माह (3.80 रूपया प्रतिदिन) कुल मिलाकर सुरक्षा यानि असुरक्षा ..... ?

सर्वषिक्षा अभियान और सूखी सेवनिया

यूँ तो प्रत्येक बच्चें को षिक्षा से जोड़ने के बड़े–बड़े वायदे सरकार के हैं परन्तु जो बच्चे पहले से ही षिक्षा ग्रहण कर रहे थे उन्हें षिक्षा की मुख्यधारा से हटाकर सरकार क्या सिद्ध करना चाहती है ? आज सूखी

सेवनिया में 6–14 वर्ष की उम्र के लगभग 200 बच्चे हैं, परन्तु वहाँ तीन वर्ष बाद एक शाला खुली है। यह शाला भी आंगनवाड़ी भवन में संचालित की जा रही है।

स्वास्थ्य सेवाओं का स्वास्थ्य और सूखी सेवनिया

यूँ तो पंचायत क्षेत्र में एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र है परन्तु वहाँ चिकित्सक नहीं है। दो नर्स हैं परन्तु उनका भी सप्ताह में एक दिवस ही निर्धारित है। सूखी के लोग तो पंचायत में आते भी नहीं तो फिर वे कहाँ जायें ? ऐसे में उनके समक्ष एक ही विकल्प है बस्ती में मौजूद बंगाली झोला छाप डॉक्टर और जिसकी फीस है 20 रूपया प्रति मरीज। गंभीर बीमारी के लिये भोपाल आना पड़ेगा। खाद्य सुरक्षा की बिगड़ती स्थिति, रोजगार की अनुपलब्धता, स्वच्छ पेयजल की अनुपलब्धता से यहाँ बीमारियों का ग्राफ बढ़ा है और औसतन प्रति परिवार 300 रूपये तक का खर्च आने लगा है जो कि एक अतिरिक्त बोझ है।

हमें सोचना होगा..... ?

समग्रता में देखें तो यह पूरी प्रक्रिया कई सारे सवाल खडे करती हैं और हमें विष्लेषण का अवसर प्रदान करती है। यह सीधे और सपाट शब्दों में सामाजिक बहिष्कार का एक क्रूरतम नमूना है।शहरों को सुंदर बनाने की चाहत और भू माफियाओं के दवाब ने सरकार की गरीब विरोधी मंषाओं को एक बार फिर उजागर किया है। हम एक बार फिर यह सोचने को मजबूर हैं कि बार–बार लोगों की जिन्दगियों से खिलवाड़ कब तक किया जाता रहेगा ?

विष्व बैंक ने भी अपनी रिपोर्ट में इस तथ्य को स्वीकार किया हैं कि विस्थापन के साथ कई और पूरक स्थितियाँ जुड़ी होती हैं जिन्हें मापा नहीं जा सकता है। आर्थिक, सामाजिक, अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र संघ के अंर्तराष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्र के अनुसार, जिस पर भारत ने भी अपनी स्वीकृति की मुहर लगाई है, पर्याप्त आवास के 7 मापदंड भी सूखी सेवनिया की बदहाली पर आंसू बहा रहे हैं।

राजधानी में आज विस्थापन बनाम व्यवस्थापन एक यक्ष प्रष्न बनकर उभर रहा है। विस्थापित की जा रही बस्तियों में लोगों के पास आजीविका के अवसरों का अभाव है, और लोग वैकल्पिक प्रयासों को अपनाने पर मजबूर है। और इस अस्थिर जीवन शैली से जीवन स्तर की गुणवत्ता में कमी आती है, जो कि किसी व्यक्ति/समुदाय के समग्र विकास की दिषा में बाधक है।

सूखी सेवनिया, गांधीनगर, अकबरपुर की तरह ही राजधानी की कई और बस्तियाँ विस्थापित किये जाने के तुगलकी फरमानों का इंतजार कर रही हैं। नगरनिगम, बीडीए, नजूल व सीईए के नये झुग्गी व्यवस्थापन प्लान के अनुसार 29 करोड़ की अति महत्वाकांक्षी परियोजना ने आकार लेना शुरू कर दिया है और जिसमें भोपाल शहर की 75 बड़ी झुग्गी बस्तियों बनाम 12000 परिवारों के विस्थापन का नियोजन किया जा रहा है। यहाँ सवाल यह है कि जब शासन ने पूर्व में ही विस्थापित बस्तियों को ले कर अपनी भूमिका पूरी नहीं की है तो फिर नई बस्तियों के विस्थापन के विषय में सोचा भी कैसे जा सकता है ?

एक कहानी यूंही

अविश्वास का नया शहर

मेरे सामने एक सवाल तब उभर कर आया जब यह पता चला कि भारत का सबसे आधुनिक और भव्य बंगलुरु हवाई अड्डा शहर से 40 किलोमीटर दूर है परन्तु यदि आप सस्ते में वहां से शहर जाने के लिए ऑटो ढूँढना चाहेंगे तो आपको लगभग एक किलोमीटर चलना होगा। इसी तरह दिल्ली के इंदिरा गाँधी हवाई अड्डे से बाहर निकल कर भी आपको लम्बी कदमताल करना होती है। लेकिन वँही दूसरी तरफ यदि आप अपने गंतव्य तक पहुँचने के लिए 3 से 4 गुना ज्यादा खर्च करने को तैयार हैं तो आपके लिए हव्वाई अड्डे के भीतर ही निजी टैक्सी पूर्व भुगतान काउंटर सजे हुए मिल जायेंगे। अंतर इतना सा है कि समाज के ऊंचे लोग हवाई यात्राकरते हैं तो उन्हें विलासी कारकी सवारीउपलब्ध करना उन बहुराष्ट्रीय कंपनियों की प्राथमिकता है जो अब इन अड्डों पर नियंत्रण जमा चुके हैं। वे मानते हैं कि दो तरह से ऑटो समाज के निचले तबके का प्रतीक हैए जिसे साधारण लोग चलाते और उसमे सवारी करते हैं। इससे आधुनिक विकास की इमारत पर दाग लगता हैए इसलिए इसे दूर किया जाना चाहिए। मैं कभी नहीं जानता था कि अपनी विलासिता और तथाकथित सम्पन्नता को साफ़ रखने के लिए हमारा समाज एक बड़े तबके को किन तरीकों सेअपमानितऔर बदनाम करके अपराधिओं के कटघरे में खडा कर देता है।

एक मध्यमवर्गीय होने के नाते मैं भी दूसरे लोगों की तरह ही यही मानता रहा हूँ कि ऑटो रिक्शा चलाने वाले लूटमार करते हैं। हम कई बार यह भी कह देते रहे हैं कि आप लोग (ऑटो रिक्शा चलाने वाले) थोडी सी दूरीका रास्ता तय करने के लिए ज्यादा पैसे लेकर शहर के नाम पर धब्बा लगा रहे हैं। ऑटोवाले से मोल भाव करते समय हम तत्काल यह गुणा–भाग करते रहे हैं कि 3 किलोमीटर जाना हैए ऑटो एक लीटर पेट्रोलमें यदि 20 किलोमीटर चलता है तो 20 रुपये से ज्यादा नहीं लगना चाहिएऔर यदि वह 30 रुपये ले रहा है तो यह तो लूट है। और हम एक आजीविका वर्ग के बारे में एक निर्णयात्मक धारणा बनानाशुरू कर देते हैं। मैने एक यात्रा के दौरानएक ऑटो वाले से यूँ ही चर्चाकी। पहला सवाल था – दोस्त आपका नाम क्या हैए उनका जवाब था– मुस्लिम हूँए इकबाल नाम है। मैंने कहा – पर मैंने तो धर्म नहीं पूछा थाए अब यह जानना और बताना जरूरी हो गया हैए इकबाल भाई ने यही कहा थाए जिनके परिवार मै तीन बच्चे हैं।

थोडी चर्चा के बाद वह थोडा और खुले और बताने लगे कुछ दर्दनाकसच! मै अपने परिवार की जमापूंजी लेकर उत्तर प्रदेश से दिल्ली शहर आया थाए सोचा था जिन्दगीबेहतर बनाऊंगाऔर यहाँ आकर एक ऑटो खरीदा। कुछ साल ऑटो चला कर और थोडा क़र्ज़ लेकर दूसरा ऑटो ले लिया। दिल्ली मै दो तरह से ऑटो चलते हैं – कुछ ठेकेदार हैं जिनके पास 50 से 200 तक ऑटो हैं और कुछ ने अपने ऑटो ले लिए हैं। पर अब इकबाल जो ऑटो चला रहे हैं वह उनका नहीं किराए का है। वह बताते हैं कि जब जब मेरा अपना ऑटो था तब मै निजामुद्दीन स्टेशन से लोधी रोड के 30 रुपये लेता थाए पर अब 50।60 रुपये मांगता हूँ। ऑटो चला कर आप अपनी बहुत बुनियादी जरूरतों को भर पूराकर पातेहैंए कुछ बहुत जमा नहीं होता है। में जहाँगीरपुरी की झुग्गी बस्ती में रहता हूँए क्या आपको पता है कि वहां रहे का मतलबघ हर तरफ कीचडसे सने रास्ते और तो और पीने के पानी और टट्टी की नालियाँ एक साथ बहती हैं। हम जिन्हें घर कहते हैं उनके फर्श कच्ची मिटटी के होते हैं और जब बस्ती में पानी भर जाता है तो हम कुछ जगह खोजते हैं सूखी हुईए ताकिरात गुजारी जा सके।फिर जब मुझे दिल का दौरा पड़ा तो इलाज के लिए पैसे चाहिए थे। यह एक इतना बड़ा आकस्मिक आघातथा कि कुछ समझ ही नहीं आया। सवाल था कि इलाजकैसे होगा। विकल्प था कि हम सरकारी अस्पताल जाते। जिनके बारे में कहा जाता है कि वहाँ

गरीबों के लिए स्वास्थय सेवाएँ मुफ्त होती हैंए पर जब हम आल इंडिया इंस्टिट्यूट पहुंचे तब कहानी सामने आई। जो कतार वहाँ थीए उसे देख कर मेरी खातों ने कहा था कि यहाँ तो लाइन में लगे लगे जान चली जायेगी। वहां हर रोज़ 100 मरीज़ देखे जाते हैं और यदि मामला गंभीर हो तो ही बड़े डॉक्टरों के पेनल में केस जाता है। अगले 2–3 दिनों में वह पेनल जांच करता है कागजों की। मैं अब सोचता हूँ कि यदि मेरे पास पैसा होता तो क्या फिर भी यही स्थिति होतीए बिलकुल नहीं! हम क़र्ज़ नहीं लेना चाहते थे और कुछ जमा पूँजी थी नहीं तो दोनों ऑटो बेंच दिए। जब थोडा ठीक हुए तो पता चला अब उनके पास कोई साधननहीं हैंए जिससे आजीविका चल सके। दिल के ओपरेशनके 20 दिन बाद उन्होंने किराए पर ऑटो कि तलाश कीए पर यदि कोई थोडा बेहतर परिवार होता तो उसे कम से कम 4 माह आराम करना होताए जो दिल के ऑपरेशन के हिस्साब से न्यूनतम जरूरत है। यही से इकबाल वंचितपन के चक्र में फंसे। दिल्ली में एक दिन के लिए ऑटो का किराया (ऑटो चालकों के लिए) 400 रुपये है। इसके साथ ही ईंधन पर कम से कम 170 रुपये खर्च होते हैं। अगर महीने भर का औसत निकाला जाए तो हर रोज़ 80 रुपये ट्राफिक पुलिस को देना पड़ते हैं। कुछ मतलब समझे आप!! अगर इकबाल किराए पर ऑटो लेकर चला रहे हैं तो उन्हें बिना कमाए 480 रुपये खर्च करना पड़ते हैं। और यदि सब कुछ ठीक चले तो 650 रुपये खर्च होंगेए इसके बाद जो हासिल होगा वह इकबाल के जेब मेंजायगे और उनकाघर चलेगा। इकबाल के मुताबिक महीने में 15 दिन ऐसे होते हैं जब फायदा नहीं होता है और खर्च होता है। वह कहता है कि जिन्दगी को किलोमीटर में नहीं तोल सकते हैं साबए यह फँसी हुई जिन्दगी है। बहुत दुखता है जब सारे ऑटोवालों को लुटेरा कहा जाता हैए कोई एक गलती कर देता है तो पुलिस–सरकार कहती है कि सारे ऑटोवालों से सावधान रहोए वे बलात्कार करते हैं!! दिल्ली जैसे शहर में रह कर वह महीने में 5 से 6 हज़ार रुपये कमा पाते हैंए जिससे वहां रोज़–रोज़ जीवन चलाना भर संभव हैए एक सुरक्षितऔर सम्मानजनक जीवन मिलने की संभावना नहीं है, है क्या! और अब हम शहर में रहते हैं। शहर में रहना आसान नहीं है। गाँव में तो जो भी कुछ पूँजी रहती ही है, पर शहर में हम जैसे लोग कभी पूँजी नहीं बना सकते। हर रोज़ हम एक चक्का खोजते हैं जिस पर हमारी जिन्दगी की गाडी चल सके। एक आदमी का एक वक्त का खाना अगर मुद्रा में देखा जाए तो कम से कम 18 रूपए का पड़ता है और पांच लोगों का पेट भरने के लिए ही 180 रूपए कमाना एक बड़ा और कठिन लक्ष्य है। शहर विश्वास ख़तम करता है। जब जरूरतें बढ़ जाती हैं और पूरी नहीं हो पाती तो हम सब एक दूसरे को शक की नज़रों से देखते है। बाहर से आकर दिल्ली में रहने वाले मौजूदा स्थितियों के लिए शहर को दोष नहीं देते हैंए जब शहर के कन्धों पर इतना भार पढ़ेगा तो उसके कंधे भी तो झुकेंगे ही। यद् हमारा गाँव अब भी हमें पाल पाता तो यहाँ केवल घूमने आते। बच्चों की वहाँ पढ़ाई हो पाती तो यहाँ नहीं आतेए यदि वहाँ इलाज हो पाता तो नहीं आते इस शहर की चौखट पर। मेहमान की तरह आते और लौट जाते।

दिल्ली में 70 हज़ार ऑटो चलते हैं जिनमे से लगभग 18000 हज़ार ऑटो के मालिक खुद चलाते हैंए पर बाकी के 52000 के मालिक ऑटो माफिया कहलाते हैं। इकबाल बताते हैं कि जब ट्राफिक में ऑटो और कार बराबरी से चलती है तो ऊँचे लोग कारवाले होकर भी गाली देते हुए निकलते हैं – साले तुमने बाप का रोड समझ रखा हैए साइड से नहीं चलते हो! इकबाल के मुताबिक अब पहचान या तो हिन्दू–मुसलमान से होती हैए या फिर तीन पहिया और चार पहिया से। इसके साथ ही वह याद दिलाता है कि एक ऑटो भी 3 लाख का ही पड़ता हैए क्यूंकि दिल्ली में इसका परमिट लेने के लिए डेढ़ लाख रूपए खर्च करने पड़ते हैं, पैसा अकेला ही काफी नहीं है, आपकी राजनीतिक पंहुच भी होना चाहिए, पर शीशों में बाद कार चलाने वाले ऑटो की दुनियाए इसका अर्थशास्त्र और राजनीति नहीं जानते हैं। वे मानते हैं कि शहर में हम बोझा तोढोयेंपर सड़क पर नज़र ना आयें। सवाल केवल इकबाल का नहीं है, दिल्ली में 10 हज़ार मुसलमान ऑटो चलाते हैं, पेशे से सब एक हैंए पर जब आप उनकी बस्ती में जाते हैं तो समाज वहाँ धर्म की कतारों में बंट जाता है। बड़ी रोचक बात यह है कि 100–100 ऑटो चलवाने वाले नेता आपस में बँटे नहीं होते हैं, उन्हें बंटवारे के दुश्प्रभावों के बारे में पता है। ऑटो यूनियनों का मामला भी बेहद अजीब हैए नहीं अजीब नहीं बेहद राजनीतिक है। ये यूनियनें वो लोग नियंत्रित करते हैं जो खुद ऑटो नहीं चलाते बल्कि चलवाते हैं। वे मंत्रियों से सीधे संपर्क में होते हैं, और जब पेट्रोल या सी एन जी के दाम बढ़ते हैं तो वे ही तय

करते हैं कि हड़ताल करना है या नहीं। महीने भर पहले सी एन जी के दाम बढे पर ऑटो किराया नहीं बदला। इकबाल चाहते थे कि किराया बढे, पर चूँकि यूनियन को सरकार ने शांत रहने को कहाए इसलिए हो–हल्ला नहीं हुआ। ऐसे में इकबाल जब ज्यादा किराया लेता है तो पुलिस की भी कमाई होती हैए क्यूंकि वह कानून तोड़ रहा होता है। वहां यानी देश की राजधानी दिल्ली में हर रोज़ लगभग 3 लाख रूपए यानी 105 करोड़ रूपए सालाना का हिस्सा पुलिस के पास जाता है।

यही सब सुन कर जब मैने भोपाल को इस नज़र से देखा तो यहाँ भी सच बदला–बदला नज़र आया। एक बड़े अखबार ने खबर छापी थी कि लोग अब ऑटो में सफ़र नहीं करना चाहते हैंए क्यूंकि इसमें लूटपाट होती है। इस खबर में बताया गया था कि कई बार ऑटो में पहले से कोई सवारी बेठी होती हैए और किसी सुनसान जगह पर जाकर ये लोग सवारी को लूट लेते हैं। उस माह में भोपाल में 245 लूट की वारदातें हुई थी जिनमे से ऑटो से लूट के बारे में 3 वारदातों का जिक्र उस खबर में थाए बाकी 242 वारदातों के बारे में यह नहीं बताया गया कि वे वारदातें क्यों और कैसे हुई! इन ख़बरों में एक भी ऑटो चालक का वक्तव्यनहीं था। फिर एक और खबर पढ़ कर बात ज़रा साफ़ हुई कि भोपाल में अब मेट्रो टैक्सी चलना शुरू हुई हैंए जो एक किलोमीटरके लिए 12 रुपये वसूलती हैं और उनका बाज़ार तभी बढ़ सकेगा जब ऑटो वालों को बदनाम किया जाएगा। इसके बाद एक विश्लेषण और सामने लाया गया कि ऑटो वाले जितना किराया लेते हैंए उससे कम मेट्रो टैक्सी लेगी। इस विश्लेषण में जो ऑटो वालों का किराया बताया गयाए वह वास्तविक से कहीं ज्यादा था। बात यही ख़त्म नहीं होतीए अब कार डीलरों ने भी इस तरह की खबरें प्लांट करवायीं कि अब टाटा नैनो ऑटो से बेहतर टैक्सी साबित होंगी। आप भींगेगे नहीं, आपको हवा नहीं लगेगी और आपके स्टेटस में भी बढ़ाव आएगा। हम यह भूल गए कि वर्तमान में भोपाल में 5000 परिवार ऑटो के जरिये पलते हैं। और जो कुछ हो रहा है उससे ना केवल उनकी आजीविका के लिए संकट खडा होगा बल्कि असुरक्षा और छवि के मामले में भी नकारात्मक स्तिथि बन रही है। क्या हम अपनी धारणाओं के पीछे झाँक कर भी देखते हैं क्या! कि हमारे नज़रियों का निर्माण कैसे हो रहा है! और विरोधाभासी सामाजिक व्यवस्था में हम किस और खड़े होकर सब कुछ देख रहे हैं।

.